॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

॥ कुण्डिका उपनिषद ॥

विषय सूची

॥अथ कुण्डिकोपनिषत्॥ 3
कुण्डिका उपनिषद 4
शान्तिपाठ 14

॥ श्री हरि ॥

॥अथ कुण्डिकोपनिषत्॥

॥ हरिः ॐ ॥

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदंमाऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म
निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

मेरे सभी अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां पुष्ट हों। यह सब उपनिशद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ तथा ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करें। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदों मे जो धर्म हैं वे आत्मज्ञान मे लगे हुए मुझ मे स्थापित हों। मुझ मे स्थापित हों।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मेरे त्रिविध– अधिभौतिक, अधिदैविक तथा आध्यात्मिक तापों की शांति हो।

॥ श्री हरि ॥

॥ कुण्डिकोपनिषत्॥

कुण्डिका उपनिषद

हरिः ॐ

ब्रह्मचर्याश्रमे क्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः ।
वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी ॥ १॥

दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः ।
ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत् ॥ २॥

वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति पर गुरु की सेवा में लगे हुए जिस पुरुष को गुरु (अपने घर) जाने की आज्ञा प्रदान कर देते हैं, वह व्यक्ति आश्रमी कहा जाता है॥ बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि वह अपने अनुकूल स्त्री को स्वीकार करके तथा अपनी शक्ति के अनुसार अग्नि को ग्रहण करके ब्रह्म यज्ञ में संलग्न रहकर अपना जीवन-यापन करे॥१-२॥

संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च ।
संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन् ॥ ३॥

तदनन्तर अपने पुत्रों में धन को बाँट करके, ग्राम (गाँव-घर) से सम्बन्धित सभी कार्यों को पुत्रों को सौंप करके, पवित्र देश (क्षेत्र) में भ्रमण करते हुए वन के लिए प्रस्थान करना चाहिए॥३॥

वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः ।
स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत् ॥ ४॥

संन्यासी को वायु अथवा जल सेवन करके अथवा विहित (शास्त्रानुमोदित) कन्द-मूल आदि से सतत अपने शरीर की रक्षा करनी चाहिए। साथ ही (संसार को) शरीर तक सीमित मानकर (मोह-ममतावश) अश्रुपात नहीं करना चाहिए॥४॥

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते ।
सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते ॥ ५॥

परन्तु इतने सामान्य से कर्म के करने मात्र से कोई भी व्यक्ति संन्यासी नहीं कहा जा सकता है। यह तो साधारण नियम का पालन है, संन्यासी के नियम इससे कहीं अधिक श्रेष्ठ कहे गये हैं॥५॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम् ।
अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते ॥ ६॥

इसके लिए फल की इच्छा न रखते हुए संन्यास धर्म से मुक्ति प्राप्त करके वर्णाश्रम व्यवस्था एवं अग्नि का परित्याग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए॥६॥

लोकवद्भार्ययासक्तो वनं गच्छति संयतः ।
संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा ॥ ७॥

किंवा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान् ।
गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च ॥ ८॥

साधारण लोगों की तरह स्त्री एवं सांसारिक सुखों का परित्याग कर वन में गमन करके अनुष्ठान आदि करने से क्या लाभ है? अथवा गर्भवास के भय से ठंडी-गर्मी, सुख-दुःख आदि से भयभीत हुआ मनुष्य सांसारिक भोगों का त्याग क्यों करता है?॥७-८॥

गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयमिति ।
संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनं यन्मृत्युर्जायमावहमिति ॥

अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत् । दीक्षामुपेयात्काषायवासाः ।
कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत् । ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति ।
अनिकेतश्चरेभिक्षाशी । निदिध्यासनं दध्यात् । पवित्रं
धारयेज्जन्तुसंरक्षणार्थम् । तदपि श्लोका भवन्ति ।
कुण्डिकां चमकं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥ ९॥

पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च ।
अतोऽतिरिक्तं यत्किंचित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥ १०॥

इस प्रकार के कृत्य करने का कारण यही है कि वह (संन्यासी) उस गूढ़ परमपद में प्रविष्ट होने की इच्छा रखता है। वह मृत्यु को जीत लेने वाले महाकाल को सतत स्मरण करता रहता है, वह सदा ही आध्यात्मिक मंत्रों का जप करता है तथा काषाय (भगवा) वस्त्रों को धारण करके दीक्षा ग्रहण कर लेता है। कुक्षि (कोख-काँख) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) स्थान के बालों को छोड़कर अन्य सभी बालों का क्षौर करा लेता है। वह अपनी दोनों भुजाएँ ऊर्ध्व की ओर करके इच्छानुसार भ्रमण करता है। गृह विहीन वह भिक्षा ग्रहण करके जीवन-यापन करता है। उसे निदिध्यासन करते रहना चाहिए । जन्तुओं से संरक्षण के लिए पवित्री को धारण किये रहना चाहिए। कमण्डलु, चमस, छींको, त्रिविष्टप, जाड़े से रक्षा हेतु गुदड़ी, कौपीनं (लँगोटी), स्नान करने के लिए धोती एवं अँगौछा पास में रखना चाहिए। इन वस्तुओं के अतिरिक्त और सभी कुछ संन्यासी को परित्याग कर देना चाहिए॥९-१०॥

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः ।
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत् ॥ ११॥

(वह यदि) चाहे तो अपनी इच्छानुसार नदी के तट पर शयन करे। बिना कोई विशेष कारण के शरीर को सुख-दुःखादि द्वारा कष्ट नहीं देना चाहिए॥११॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचिरेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥ १२॥

स्नान के लिए, पीने के लिए तथा शौचादि के लिए शुद्ध जल का सेवन करना चाहिए। वह न तो स्तुति-प्रशंसा आदि से प्रसन्न हो और न ही निन्दा-अपमान होने पर किसी को शाप आदि ही दे॥१२॥

भिक्षादिवैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।
एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा ॥ १३॥

भिक्षा के लिए पात्र तथा स्नान आदि के लिए जल जिस किसी भी तरह से मिले, उसे प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार से अनुपम, श्रेष्ठ आचरण को स्वीकार करके यति को सदा ही जप करते रहना चाहिए॥१३॥

विश्वायमनुसंयोगं मनसा भावयेत्सुधीः ।
आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योतिर्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी ।
एषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्ये । अजरममरमक्षरमव्ययं प्रपद्ये ।
मय्यखण्डसुखांभोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥ १४॥

सुधीजनों को अपने मन में यह भावना करनी चाहिए कि यह विश्वरूप ब्रह्म और मनु अर्थात् प्रणव रूप अक्षर ब्रह्म दोनों एक ही हैं। आकाश से वायु, वायु से ज्योति (अग्नि), ज्योति से जल और जल से पृथ्वी इन सभी भूतों में जो अविनाशी ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे उस (ब्रह्म) को मैं प्राप्त हुआ हूँ। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को (मैं) प्राप्त हुआ हूँ। मैं अखण्ड सुख-सागर रूप हूँ। मेरे मध्य में बहुत सी लहरें मायारूपी वायु के द्वारा प्रादुर्भूत एवं विलीन होती हैं॥१४॥

न मे देहेन संबन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥ १५॥

मेरा इस शरीर से उसी तरह का सम्बन्ध नहीं है, जैसे-आकाश का मेघ से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। अतः इस शरीर के जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में मेरा (जीवात्मा का) क्या सम्बन्ध है?॥१५॥

आकाशवत्कल्पविदूरगोहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥ १६॥

मैं (जीवात्मा) आकाश की भाँति कल्पना से परे अर्थात् ऊपर हैं, सूर्य के सदृश अन्य सुनहले आकर्षक पदार्थों से पृथक् हूँ, पर्वत की तरह सतत स्थिर रहता हूँ तथा समुद्र की तरह अपार हूँ॥१६॥

नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥ १७॥

मैं ही नारायण हूँ। नरकान्तक (नरकासुर का वध करने वाले), पुरान्तक (त्रिपुरासुर का वध करने वाले), पुरुष तथा ईश्वर भी मैं ही हूँ। मैं ही अखण्ड बोध स्वरूप, समस्त प्राणियों का साक्षी, ईश्वररहित (मेरे ऊपर नियन्त्रण करने वाला कोई नहीं), अहंकाररहित तथा ममतारहित हूँ॥१७॥

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य तत्र श्लोका भवन्ति ॥

अब प्राण एवं अपान के अभ्यास के विषय में वर्णन करते हैं।

वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् ।
संदश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्रे विनिर्गताम् ॥ १८॥

वृषण तथा गुदा के बीच में दोनों हाथों को रखे। दाँतों से जिह्वा को शनैः-शनैः दबाते हुए एक जौ के बराबर बाहर निकाले॥१८॥

माषमात्रां तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि ।
श्रवणे नासिके गन्धा यतः स्वं न च संश्रयेत् ॥ १९॥

माष मात्र (उड़द के बराबर) लक्ष्य को अनुसंधान करके दृष्टि को श्रोत्र और पृथ्वी पर स्थिर करे। जिससे श्रवण (शब्द) और नासिका में गन्ध न स्थापित हो सके। १९॥

अथ शैवपदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।
तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मनाम् ॥ २०॥

जो ब्रह्म का चिंतन करता है, वही स्वयं ब्रह्म रूप हो जाता है तथा वही शिव है। उस (अविनाशी ब्रह्म) को पूर्व जन्म में किये हुए पुण्य कर्मों के फलस्वरूप अभ्यास द्वारा ही प्राप्त किया जाता है॥२०॥

संभूतैर्वायुसंश्रावैर्हृदयं तप उच्यते ।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम् ॥ २१॥

वायु के नाद का प्रकट होना ही हृदय का तप कहा जाता है, वह शरीर को भेदकर ऊर्ध्व की ओर गमन करता हुआ मूर्धा को प्राप्त कर लेता है॥२१॥

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् ।
भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः ॥ २२॥

अपने इस शरीर में मूर्धा को प्राप्त कर लेना ही परमगति कहा गया है। जो मनुष्य इस गति को प्राप्त कर लेते हैं, वे ब्रह्मज्ञानी जन आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं॥२२॥

न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥ २३॥

विकाररहित और उदासीन भावयुक्त साक्षी को साक्ष्य-धर्म वैसे ही स्पर्श नहीं कर सकता, जिस प्रकार गृह-धर्म प्रज्वलित दीप पर कोई भी प्रभाव नहीं डाल सकता॥२३॥

जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥ २४॥

यह जड़ात्मक शरीर चाहे जल-राशि में पड़ा रहे अथवा स्थल अर्थात् जल से रहित भूमि पर पड़ रहे, मैं (जीवात्मा) जो स्वयं चैतन्य रूप हैं, इस कारण से उसमें लिप्त नहीं हो सकता। जैसे घड़े के कारण घटोकाश में किसी भी तरह की विकृति नहीं आने पाती॥२४॥

निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥ २५॥

सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ॥ २६॥

मैं तो निष्क्रिय, विकाररहित, निष्कल, आकृतिरहित, निर्विकल्प, अनित्य, निरालम्ब,अद्वैत,सर्वात्मा, सर्वातीत एवं द्वयरहित हूँ। मैं केवल अखण्ड बोधस्वरूप हूँ तथा निरन्तर स्वयं आनन्दमय हूँ॥२५-२६॥

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥ २७॥

मैं स्वयं को ही सतत देखता हूँ, स्वयं को ही अद्वैत रूप में मानता हुआ, स्वयं के आनन्द का उपभोग करता हुआ, मैं स्वयं ही निर्विकल्प रूप हूँ॥२७॥

गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वान्यथापि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिः ॥ २८॥

सतत चला हुआ, रुका हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ या कुछ भी करता हुआ, वह विद्वान् मुनि रूप आत्मा अपने में ही संतुष्ट हुआ अपनी इच्छानुसार जीवनयापन करे,ऐसी ही यह उपनिषद् है॥२८॥

॥ हरि ॐ ॥

शान्तिपाठ

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः
श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि ।
सर्वं ब्रह्मौपनिषदंमाऽहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म
निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु ।

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ।

मेरे सभी अंग पुष्ट हों तथा मेरे वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत, बल तथा सम्पूर्ण इन्द्रियां पुष्ट हों। यह सब उपनिशद्वेद्य ब्रह्म है । मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ तथा ब्रह्म मेरा निराकरण न करें अर्थात मैं ब्रह्म से विमुख न होऊं और ब्रह्म मेरा परित्याग न करें। इस प्रकार हमारा परस्पर अनिराकरण हो, अनिराकरण हो । उपनिषदों मे जो धर्म हैं वे आत्मज्ञान मे लगे हुए मुझ मे स्थापित हों। मुझ मे स्थापित हों।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

मेरे त्रिविध– अधिभौतिक, अधिदैविक तथा आध्यात्मिक तापों की शांति हो।

॥ इति कुण्डिकोपनिषत्॥

॥ कुण्डिका उपनिषद समाप्त ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥